CHRONICLE
Nurturing Talent Since 1990

2006-2021
16 वर्ष
हल प्रश्न-पत्र

सिविल सेवा मुख्य परीक्षा

दर्शनशास्त्र

प्रश्नोत्तर रूप में

सिविल सेवा परीक्षा के पाठ्यक्रम पर आधारित

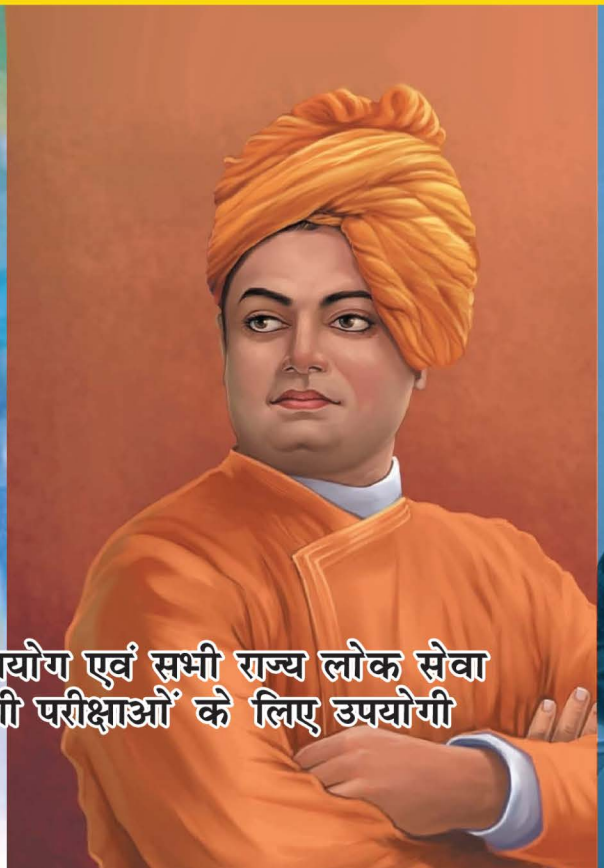

संघ लोक सेवा आयोग एवं सभी राज्य लोक सेवा आयोग के प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए उपयोगी

पुस्तक के संबंध में

सिविल सेवा मुख्य परीक्षा के नवीनतम पाठ्यक्रम पर आधारित विगत 16 वर्षों (2006-2021) के प्रश्नों का अध्यायवार हल

प्रश्नों को हल करने की प्रकृति: पुस्तक में प्रश्नों के उत्तर को मॉडल हल के रूप में दिया गया है। प्रश्नों को हल करते समय इस बात का ध्यान रखा गया है कि उत्तर सारगर्भित हो, तथा पूछे गए प्रश्नों के अनुरूप हो। पुस्तक में प्रश्नों के इतर भी विशिष्ट जानकारी को उत्तर में समाहित किया गया है, ताकि अभ्यर्थी इसका उपयोग न सिर्फ हल प्रश्न पत्र के रूप में, बल्कि अध्ययन सामग्री के रूप में भी कर सकें।

पुस्तक का उपयोग कैसे करें?: इस पुस्तक का उपयोग अभ्यर्थी अपने उत्तर लेखन शैली में सुधार लाने तथा प्रश्नों की प्रवृति व प्रकृति को समझने के लिये कर सकते हैं। किसी भी परीक्षा के विगत वर्षों के प्रश्न इसमें सबसे लाभदायक होते हैं। पुस्तक में दी गई सामग्री का इस्तेमाल बिंदुवार, निश्चित शब्द सीमा का पालन, उप-शीर्षक एवं आरेख आदि का प्रयोग अभ्यर्थी अपने उत्तर लेखन शैली के अभ्यास हेतु आधुनिक परिपेक्ष में कर सकते हैं। पुस्तक में प्रश्नों के उत्तर उसके सम्बंधित वर्ष के अनुसार ही दिया गया है।

दर्शनशास्त्र-एक वैकल्पिक विषय के रूप में: दर्शनशास्त्र, हिंदी माध्यम के विद्यार्थियों के लिए काफी लोकप्रिय वैकल्पिक विषय रहा है। वैसे छात्र जिन्हें दर्शन में और साहित्यिक-सामाजिक समस्याओं के गहन अनुशीलन, चिंतन और समाधान खोजने में रुचि है और जिनकी भाषा पर अच्छी पकड़ है वे इस विषय का चयन कर सकते हैं। संघ लोक सेवा आयोग के नवीनतम पाठ्यक्रम के अनुसार दर्शनशास्त्र सामान्य अध्ययन के प्रश्न-पत्र 4 के लिए उपयोगी है। साथ ही निबंध के प्रश्न पत्र के लिए इसकी प्रासंगिकता और उपयोगिता को देखते हुए इसका वैकल्पिक विषय के रूप में महत्त्व और भी बढ़ गया है। वैसे छात्र जिनके पास तार्किक योग्यता है वे दर्शनशास्त्र का चयन कर सकते हैं। इस विषय का पाठ्यक्रम छोटा है और तकनीकी शब्द ज्यादा है जिसके लिए गहरी समझ होनी आवश्यक है ताकि एक संकल्पना को दूसरी से जोड़ा जा सके।

यह पुस्तक छात्रों को संघ लोक सेवा आयोग मुख्य परीक्षा के आलावा राज्य लोक सेवा आयोगों (उत्तर प्रदेश, बिहार, उत्तराखंड, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हिमाचल प्रदेश, एवं झारखण्ड) के बदले हुए पाठ्यक्रम में आयोजित होने वाले सिविल सेवा मुख्य परीक्षा के दर्शनशास्त्र के प्रश्न पत्र में उपयोगी साबित होगा।

संपादक

अनुक्रमणिका

विषयवार हल प्रश्न-पत्र 2006-2021

सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021 (प्रथम प्रश्न-पत्र) 1-10
सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2021 (द्वितीय प्रश्न-पत्र) 11-18

प्रथम प्रश्न-पत्र

प्लेटो एवं अरस्तू
- प्रत्यय, द्रव्य, आकार एवं पुद्गल्, कार्यकारण भाव, वास्तविकता एवं शक्यता 05-14

तर्कबुद्धिवाद (देकार्त, स्पिनोजा, लाइबनिज)
- देकार्त की पद्धति एवं असंदिग्ध ज्ञान, द्रव्य, परमात्मा, मन-शरीर द्वैतवाद, नियतत्ववाद एवं स्वातंत्र्य 15-29

इंद्रियानुभव वाद (लॉक, बर्कले, ह्यूम)
- ज्ञान का सिद्धांत, द्रव्य एवं गुण, आत्मा एवं परमात्मा संशयवाद 30-41

कांट: संश्लेषात्मक प्रागनुभविक निर्णय की संभवता
- दिक् एवं काल, पदार्थ, तर्कबुद्धि प्रत्यय विप्रतिषेधा परमात्मा के अस्तित्व के प्रमाणों की मीमांसा 42-49

हीगल
- द्वंद्वात्मक प्रणाली, परमप्रत्ययवाद 50-53

मूर, रसेल एवं पूर्ववर्ती विट्गेन्सटीन
- सामान्य बुद्धि का मंडन, प्रत्ययवाद का खंडन, तार्किक परमाणुवाद, तार्किक रचना, अपूर्ण प्रतीक, अर्थ का चित्र सिद्धांत, उक्ति एवं प्रदर्शन 54-69

तार्किक प्रत्यक्षवाद
- अर्थ का सत्यापन सिद्धांत, तत्वमीमांसा का अस्वीकार, अनिवार्य प्रतिज्ञप्ति का भाषिक सिद्धांत 70-76

संवृतिशास्त्र (हर्सल)
- प्रणाली, सार सिद्धांत, मनोविज्ञानपरता का परिहार 77-81

अस्तित्वपरकतावाद (कीर्कगार्द, सार्त्र, हीडेगर)
- अस्तित्व एवं सार, वरण, उत्तरदायित्व एवं प्रामाणिक अस्तित्व, विश्वनिसत् एवं कालसत्ता 82-90

क्वाइन एवं स्ट्रासन
- इंद्रियानुभववाद की मीमांसा, मूल विशिष्ट एवं व्यक्ति का सिद्धांत 91-99

चार्वाक
- ज्ञान का सिद्धांत, अतींद्रिय सत्वों का अस्वीकार 100-108

जैन दर्शन
- सत्ता का सिद्धांत, सप्तभंगी न्याय, बंधान एवं मुक्ति 109-116

बौद्ध दर्शन संप्रदाय
- प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद 117-132

न्याय-वैशेषिक
- पदार्थ सिद्धांत, आभास सिद्धांत, प्रमाण सिद्धांत, आत्मा, मुक्ति, परमात्मा, परमात्मा अस्तित्व के प्रमाण, कार्यकारण-भाव का सिद्धांत, सृष्टि का परमाणुवादी सिद्धांत 133-1147

सांख्य
- प्रकृति, पुरुष, कार्यकारण-भाव, मुक्ति, योग: चित्त, चित्तवृत्ति, क्लेष, समाधि कैवल्य 148-162

मीमांसा
- ज्ञान का सिद्धांत 163-168

वेदांत संप्रदाय
- ब्रह्मन, ईश्वर, आत्मन, जीव, जगत, माया, अविद्या, अध्यास, मोक्ष, अपृथक सिद्धि, पंचविधाभेद, अरविंद: विकास, प्रतिविकास, पूर्णयोग 169-185

विविध 186-191

द्वितीय प्रश्न-पत्र

सामाजिक एवं राजनैतिक आदर्श
- समानता, न्याय, स्वतंत्रता 192-204

प्रभुसत्ता
- आस्टिन, बोदाँ, लास्की, कौटिल्य 205-214

व्यक्ति एवं राज्य
- अधिकार, कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व 215-222

शासन के प्रकार
- राजतंत्र, धर्मतंत्र एवं लोकतंत्र 223-230

राजनैतिक विचारधाराएं
- अराजकतावाद, मार्क्सवाद एवं समाजवाद 231-2241

मानववाद
- धर्मनिरपेक्षतावाद, बहुसंस्कृतिवाद 242-254

अपराधा एवं दंड
- भ्रष्टाचार, व्यापक हिंसा, जातिसंहार, प्राणदंड 255-268

लिंग भेद
- स्त्री भ्रूण हत्या, भूमि एवं संपत्ति अधिकार, सशक्तिकरण 269-279

ईश्वर की धारणा
- गुण, मनुष्य एवं विश्व से संबंध (भारतीय एवं पाश्चात्य) 280-284

ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण और उसकी मीमांसा
- (भारतीय एवं पाश्चात्य) 285-302

अशुभ की समस्या 303-307

आत्मा
- अमरता, पुनर्जन्म एवं मुक्ति 308-319

तर्कबुद्धि श्रुति एवं आस्था 320-327

धार्मिक अनुभव
- प्रकृति एवं वस्तु (भारतीय एवं पाश्चात्य) 328-334

ईश्वर रहित धर्म 335-338

धर्म एवं नैतिकता
- धार्मिक शुचिता एवं परम सत्यता की समस्या 339-354

धार्मिक भाषा की प्रकृति
- सादृश्यमूलक एवं प्रतीकात्मक, संज्ञानवादी एवं निस्संज्ञानवादी 355-363

सिविल सेवा मुख्य परीक्षा (प्रथम प्रश्न-पत्र)

दर्शनशास्त्र

प्लेटो एवं अरस्तू

प्र. वहां एक लाल कुर्सी है। प्लेटो अपने आकार-सिद्धान्त का प्रयोग करते हुए इस वाक्य की किस प्रकार व्याख्या करेंगे? परीक्षण कीजिए।

उत्तर: दर्शनशास्त्र में प्लेटों के सबसे प्रभावशाली योगदानों में से एक थ्योरी ऑफ फॉर्म्स था। बुनियादी शब्दों में प्लेटों के थ्योरी ऑफ फॉर्म्स का दावा है कि भौतिक विश्व वास्तव में वास्तविक विश्व नहीं है। इसके अतिरिक्त हमारे भौतिक विश्व से परे परम वास्तविकता मौजूद है।

- प्लेटों इस सिद्धांत की चर्चा कुछ अलग संवादों में करते हैं जिसमें सबसे प्रसिद्ध संवाद भी शामिल है जिसे 'द रिपब्लिक' कहा जाता है। यह भी संभव है कि प्लेटों को यह सिद्धांत अपने गुरु सुकरात से विरासत में मिला हो।
- प्लेटों का दर्शन इस पर जोर देता है कि दो क्षेत्र हैं, भौतिक क्षेत्र और आध्यात्मिक क्षेत्र। भौतिक क्षेत्र वह भौतिक सामग्री है जिसे हम दैनिक आधार पर देखते हैं और उसके साथ बात करते हैं, वह भौतिक क्षेत्र बदल रहा है और अपूर्ण है। हालांकि, आध्यात्मिक क्षेत्र भौतिक क्षेत्र से परे स्थित है।
- प्लेटों इस आध्यात्मिक क्षेत्र को कपों का क्षेत्र (जिसे विचारों का क्षेत्र ना आदर्शों का क्षेत्र भी कहा जाता है) कहते हैं। प्लेटों के 'थ्योरी ऑफ फॉर्म्स' का दावा है कि भौतिक क्षेत्र केवल रूपों के दायरे की वास्तविक वास्तविकता की छाया या छवि है।
- प्लेटों के अनुसार रूप अमूर्त, परिपूर्ण, अपरिवर्तनीय अवधारणा का वह आदर्श है जो समय और स्थान से परे हैं। वे कपों के दायरे में स्थित हैं। भले ही रूप सार है इसका अर्थ यह नहीं है कि वे वास्तविक नहीं है।
- वास्तव में, प्रपत्र किसी भी व्यक्तिगत भौतिक वस्तुओं की तुलना में आधिक वास्तविक होते हैं। तो रेडनेस, गोलाई, सौन्दर्य, न्याय, या अच्छाई जैसी अवधारणाएं रूप है। वहां एक लाल कुर्सी, एक गोल गेंद या एक अच्छा व्यक्ति जैसी व्यक्तिगत वस्तुएं भौतिक क्षेत्र में निवास करती हैं और केवल कपों के अलग-अलग उदाहरण हैं।

प्र. अरस्तु के अनुसार 'शक्यता अपरिभाष्य' है। उपरोक्त दार्शनिक मत के सन्दर्भ में लकड़ी की मेज का उदाहरण प्रयोग करते हुए शक्यता तथा वास्तविकता के मध्य सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए।

उत्तर: अरस्तु ने आकार या स्वरूप को वास्तविकता एवं जड़ द्रव्य को संभाव्यता कहा है। द्रव्य एक शक्यता (Potentiality) है। यह शक्यता स्वरूप ग्रहण करने के संबंध में है। स्वरूप शक्यता का वास्तविक रूप है। जब द्रव्य साकारित होता है तब संभाव्यता वास्तविक हो जाती है। स्वरूप संभाव्यता को साकार करता है, इसलिए स्वरूप संभवन, परिवर्तन (Becoming) की व्याख्या करता है कि किस प्रकार एक वस्तु में अपना नियमित परिवर्तन होता है।

- शक्यता के कारण ही द्रव्य में परितवर्तन होता है। परिवर्तन का लक्ष्य है कि शक्यता वास्तविक हो। अत: परिवर्तन का आश्रय द्रव्य और लक्ष्य स्वरूप या आकार है। जब तक द्रव्य आकारित नहीं होता है तब तक द्रव्य में अभाव बना रहता है। शक्यता अभाव ही है, क्योंकि यह अभी वास्तविकता में रूपांतरित नहीं है। अत: परिवर्तन अभाव को दूर करने के लिए होता है।
- जब द्रव्य आकार ग्रहण करता है तब वह अभाव दूर हो जाता है। कालिक दृष्टि से यद्यपि द्रव्य आकार का पूर्ववर्ती है, परन्तु तार्किक दृष्टि से आकार द्रव्य का पूर्ववर्ती है। क्योंकि द्रव्य आकार के रूप में रूपांतरति होकर ही वास्तविकता को प्राप्त करता है। द्रव्य को जिस वस्तु का आकार ग्रहण करना होता है वह वस्तु संभाव्य रूप में पहले से ही विधमान रहती है। जैसे लकड़ी की मेज, रुई में धागा।

अरस्तु के इस संभाव्यता एवं वास्तविकता के द्वैत पर विचार करने के निम्न बातें सामने आती हैं।

1. वास्तविकता संभाव्यता में पहले से ही अव्यक्त अवस्था में रहती है। अत: किसी वस्तु का प्रकटीकरण या वस्तु में किसी नये गुण का आगमन वास्तव में कोई नई उत्पत्ति न होकर मैटर में दिये आकार का प्रकटीकरण मात्र है।
2. अरस्तु यह मानते हैं कि सारा विश्व संभाव्यता एवं वास्तविकता के तारतम्य में बंधा हुआ है जो क्रमश: अधिकाधिक अच्छे परिणाम में परिणत हो रहा है। इस प्रकार अरस्तु के दर्शन में विकासवाद को स्वीकार किया गया है। जो कि आशावाद से ओतप्रोत है।

इंद्रियानुभव वाद (लॉक, बर्कले, ह्यूम)

प्र. 'संवेद्य वस्तुएं केवल वे होती हैं जिन्हें अव्यवहित अथवा अपरोक्ष रूप से इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सके।' उपरोक्त वाक्य के सन्दर्भ में बर्कले की ज्ञानमीमांसा की व्याख्या कीजिए।

उत्तर: बर्कले के अनुसार भौतिक पदार्थ की धारणा तीन बातों पर निर्भर करती है- अमूर्तबोधन, प्राथमिक और गौण गुणों का भेद, तथा प्रत्ययों के बाह्य कारण के आधार पर। बर्कले ने इन तीनों का खण्डन किया है।

- भौतिक पदार्थ एक अमूर्त विचार है, अमूर्तबोधन एक असंगत प्रक्रिया है जिसमें किसी एक गुण को वस्तुओं से अलग करके अमूर्त प्रत्यय की रचना करते हैं। परन्तु अमूर्त प्रत्यय का सत्तात्मक आधार नहीं होता। बर्कले के प्रत्ययवाद का आधाभूत सिद्धांत है-प्रत्यक्ष और अस्तित्व में तादात्म्य। किसी भी वस्तु का अस्तित्ववान होना, उसका प्रत्यक्ष किया जाना है। बर्कले की प्रसिद्ध युक्ति है- 'Esse est percipii' (दृश्यते इत्रि वर्तते)
- अनुभवमूलकता सत्ता का सार है। विश्व के सभी पदार्थ अपने अस्तित्व के लिए किसी ज्ञाता पर निर्भर करते हैं। उसी को अस्तित्वमान माना जा सकता है जो अनुभूत या अनुभवगम्य है। ऐसी सत्ता को मानना जिसका अनुभव न हो, विसंगत है- बर्कले की दृष्टि से 'संबंध वस्तुएं केवल वे होती हैं जिन्हें अत्यवहित अथवा अपरोक्ष रूप से इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सके।
- वस्तुओं के विषय में प्रत्यक्ष होने के संदर्भ के बाहर जो कुछ कहा जाता है वह पूर्णत: अबोधगम्य है। अत: प्रत्यक्ष करने वाले मनस् की परिधि से बाहर वस्तुओं का कोई अस्तित्व नहीं है।

प्र. लॉक की वैयक्तिक तादात्म्य की अवधारणा का परीक्षण कीजिए।

उत्तर: लॉक पूर्णतया एक व्यक्तिवादी हैं तथा उनके दर्शन में प्रत्येक बात व्यक्ति के इर्द-गिर्द घूमती है। प्राकृतिक स्थिति का चित्रण करते हुए उन्हें एक मात्र चिन्ता व्यक्ति की है। सामाजिक जीवन का अस्तित्व प्राकृतिक एवं राजनीतिक दोनों स्थितियों में व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों की रक्षा के लिए है। राजनीतिक समाज का निर्माणकारी तत्व भी व्यक्ति ही है समाज भी व्यक्ति के अधिकारों से मर्यादित है।

- लॉक के अनुसार, राज्य का निर्माण जन इच्छा के आधार पर होता है। किसी भी व्यक्ति को अपनी इच्छा के विरुद्ध राज्य का सदस्य बनने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। सभी व्यक्ति जन्म से स्वतंत्र होते हैं। अत: वे किसी भी राज्य की सदस्यता ग्रहण कर सकते हैं। इस प्रकार लॉक व्यक्ति को राज्य में सम्मिलित होने अथवा न सम्मिलित होने की स्वतंत्रता प्रदान करता है।
- लॉक का विचार है कि राज्य को वे ही अधिकार और शक्तियां प्राप्त हैं जो व्यक्ति ने इसे प्रदान की है। वे शक्तियां किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह को न सौंपकर संपूर्ण समाज को प्रदान की गई हैं। अत: लॉक ने हॉब्स के समान निरंकुश सम्प्रभु की कल्पना नहीं की है। इसकी शक्तियां और अधिकार वे ही हैं जो कि समाज ने इसे प्रदान किये हैं। लॉक इस दृष्टि से भी पूर्ण व्यक्तिवादी है कि वह प्राकृतिक अवस्था, सभ्य समाज समझौता और राज्य सभी की उत्पत्ति का कारण व्यक्ति को मानते हैं। लॉक के अनुसार, संप्रभुता व्यक्ति में निहित है। राज्य का अस्तित्व केवल व्यक्तियों को सुविधाएं प्रदान करने के लिए है। इस प्रकार राज्य का निर्माण व्यक्ति के हितों की प्राप्ति के लिए एक साधन है।
- लॉक के व्यक्तिगत संपत्ति संबंधी विचार उसकी कट्टरवादिता के परिचायक है। उसका विचार है कि व्यक्तिगत श्रम द्वारा अर्जित वस्तु व्यक्ति की निजी संपत्ति है। इस संपत्ति को छीनने का अधिकार किसी अन्य व्यक्ति अथवा राज्य को नहीं है।
- लॉक ने अपने व्यक्तिवादी विचारों के अनुकूल व्यक्ति को राज्य का विरोध करने का अधिकार प्रदान किया है। यदि राज्य अपनी शक्ति का दुरुपयोग करता है। तो व्यक्ति को इसका विरोध करने का अधिकार प्राप्त हो।

प्र. 'कारण तथा कार्य के मध्य नित्य संयोजन का सम्बन्ध होता है।' उपरोक्त कथन के आलोक में ह्यूम की कारणता की आलोचना का परीक्षण कीजिए।

उत्तर: कार्य कारण नियम को अनिवार्य एवं सार्वभौम नियम माना जाता है। ह्यूम परंपरागत रूप से प्रचालित कारणता संबंधी इस सामान्य मत की परीक्षा करते हैं। उल्लेखनीय है कि इसी नियम के आधार पर दर्शन के क्षेत्र में जड़वाद, प्रत्ययवाद, ईश्वरवाद इत्यादि सिद्धांतों की स्थापना करने का प्रयास किया गया है।

- ह्यूम के अनुसार कारण-कार्य में कोई अनिवार्य संबंध नहीं है। इनमें केवल सांयोगिक संबंध होता है। इसका ज्ञान अनुभव से होता है यह तार्किक संबंध नहीं है क्योंकि कारण-कार्य संबंध को अभिव्यक्त करने वाले अभिकथन का निषेध करने पर कोई अत्मविरोध उत्पन्न नहीं होता है। ह्यूम के अनुसार कारण और कार्य अलग-अलग घटनाएं हैं और उनके संस्कार भी अलग-अलग प्राप्त होते हैं। इनमें केवल दैशिक एवं कालिक सामीरय है, परन्तु केवल दैशिक एवं कालिक समीरय के आधार पर कारण-कार्य में अनिवार्य संबंध नहीं स्थापित किया जा सकता।
- ह्यूम के अनुसार, कारण-कार्य में आरोपित अनिवार्यता एवं सार्वभौमिकता का मनोवैज्ञानिक आधार है तार्किक नहीं। यह हमारी कल्पनिक स्वभाव या मानसिक आदत का परिणाम है। जब हम दो घटनाओं को साथ-साथ अनुभव में देखते हैं तो हम उनके बीच अनिवार्य संबंध की कल्पना करने लगते हैं। उदाहरणस्वरूप, पानी पीने पर प्यास बुझती है।
- यह प्रक्रिया बार-बार होने पर मानसिक तौर पर यह निर्धारित कर लेते हैं कि पानी पीना प्यास बुझने का कारण है। हम इनमें अनिवार्य संबंध स्थापित कर लेते हैं।
- ह्यूम कारणता सिद्धांत की अनिवार्यता के निरसन के क्रम में प्रकृति समरूपता का नियम की अवधारणा को भी खण्डित करते हैं। प्रकृति की समरूपता का अर्थ है कि प्रकृति समान परिस्थितियों में समान कार्यों को संपन्न करती है।
- ह्यूम इस संदर्भ में कहते हैं कि भविष्य अतीत जैसा ही होगा। ऐसा कहने का कोई तार्किक आधार नहीं है। हम अनुभव के आधार पर केवल यह कह सकते हैं कि यह आग जलाती है। परन्तु हम ऐसा नहीं कह सकते कि आग जलेगी ही। हम इसका विपरित सोच सकते हैं और ऐसा सोचने में कोई तार्किक विरोध नहीं है।
- स्पष्ट है कि कारण कार्य संबंध तार्किक संबंध नहीं होकर मनोवैज्ञानिक संबंध है। अत: कारण तथा कार्य के मध्य नित्य संयोजन का संबंध होता है। यह वस्तुगत नहीं बल्कि आत्मगत है।

कांट: संश्लेषात्मक प्रागनुभविक निर्णय की संभवता

प्र. कान्ट किस प्रकार देकार्त द्वारा सूत्रबद्ध सत्तामूलक युक्ति की आलोचना प्रस्तुत करते हैं, इसकी व्याख्या कीजिए।

उत्तर: कांट के अनुसार सत्तामूलक मुक्ति में अस्तित्व को एक गुण के रूप में लिया गया है जबकि अस्तित्व कोई गुण नहीं है। वस्तुत: अस्तित्व गुण से पहले होता है। यदि अस्तित्व को गुण मानने की भूल की गई तो फिर उस अस्तित्व रूपी गुण के आश्रय के रूप में किसी

सिविल सेवा मुख्य परीक्षा (द्वितीय प्रश्न–पत्र)

दर्शनशास्त्र

सामाजिक एवं राजनैतिक आदर्श

प्र. आर. नोजिक द्वारा प्रतिपादित न्याय के वितरणात्मक सिद्धान्त की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

उत्तर: नोजिक का न्याय सिद्धांत 'योग्यतावादी न्याय सिद्धांत' कहलाता है। नोजिक कल्याणकारी राज्य के आदर्शों में विश्वास नहीं रखता और राज्य के हस्तक्षेप को संशय की दृष्टि से देखते हैं।

- नोजिक न्याय के ऐतिहासिक सिद्धांत का समर्थन करते हुए कहते है कि यदि अतीत में कोई गलत संपत्ति हस्तांतरण हुआ है तभी उसे बदला जाये। सही ढंग से हुए संपत्ति हस्तांतरण को राज्य द्वारा छेड़ना गलत होगा।
- वे स्पष्ट कहते हैं कि लोगों की अतीत की परिस्थितियों एव कार्यों के आधार पर वर्तमान स्थिति भिन्न-भिन्न हो सकती है। समाज में उत्पादन के स्तर पर जो असमानताएं पायी जाती हैं, इसे वितरण के स्तर पर बदलना विनाशकारी होगा। इस प्रकार नोजिक राज्य के समस्तकल्याणकारी कार्यक्रम को अवैध बताते हैं। क्योंकि राज्य द्वारा व्यक्ति के संपदा के अधिकारों में हस्तक्षेप का अर्थ व्यक्ति के अधिकारों का उल्लंघन होगा।
- नोजिक के अनुसार, कोई संपत्ति का अधिग्रहण तभी गलत होगा जब वह दूसरों की स्थिति पहले से खराब कर दें। उदाहरणार्थ-नोजिक का कहना है कि कोई यदि प्राणरक्षक दवा बनाकर महंगे दाम पर बेंचे तो यह उचित है, किन्तु दूसरों को वैसी दवा न बनाने दे, यह अनुचित होगा।
- इस प्रकार नोजिक न्याय की स्थापना हेतु निम्न बातों को रखते हैं-
  (i) न तो राज्यविहिन स्थिति अच्छी है और न ही एक ऐसा राज्य अच्छा है जो संपत्ति का पुनर्वितरण करे।
  (ii) राज्य को रात्रि प्रहरी के रूप में एवं न्यूनतम राज्य के रूप में होना चाहिए।
  (iii) नोजिक के अनुसार दरिद्रहीन या बंचित लोग अपनी मदद स्वयं करें अन्यथा उन्हें अमीरों की दया पर खैराती व्यवस्था पर निर्भर होना पड़ेगा।
  (iv) योग्यतावादी के समर्थन के क्रम में नाजिक का कहना है कि जिसके पास योग्यता होगी, वह वस्तु एवं सुविधाओं को पायेगा।

स्पष्ट है कि कल्याणकारी राज्य की अवधारणा को पूरी तरह नकारते हुए नोजिक खुली बाजार व्यवस्था के प्रतिस्पर्धात्मक समाज को न्यायपूर्ण समाज के रूप में प्रस्तुत करते हुए दिखाई देते हैं।

प्र. रूसो किस प्रकार प्राकृतिक एवं कृत्रिम असमानता में भेद करते हैं? व्याख्या कीजिए।

उत्तर: रूसी ने दो प्रकार की असमानताओं के अस्तित्व का उल्लेख किया है- प्राकृतिक और कृत्रिम।

प्राकृतिक का तात्पर्य किसी की स्वास्थ्य स्थितियों, आयु या शारीरिक विशेषताओं से उत्पन्न असमानताओं से है। दूसरी और कृत्रिम असमानता वह है जो मनुष्य द्वारा स्थापित की जाती है। इन दो साामजिक असमानताओं में से प्राकृतिक असमानताएं अनुवांशिक है और इन्हें रोका नहीं जा सकता जबकि कृत्रिम असमानताएं अप्राकृतिक है और इन्हें रोका जा सकता है।

- असमानता के इर्द-गिर्द अपने विचारों को सामने रखने के लिए रूसो ने एक विचार प्रयोग, प्रकृति की स्थिति का उपयोग किया। नतीजन, उनके द्वारा प्रतिपादित विचार ऐतिहासिक रूप से सटीक नहीं है।
- प्रयोग एक सैद्धांतिक कल्पना है जिसका उद्देश्य आधुनिक मनुष्य की उत्पत्ति को समझना है, जैसा की वह अभी है।
- रूसो के अनुसार एक प्राकृतिक मनुष्य है जो अनिवार्य रूप से मजबूत है और अपने आस-पास के जानवरों की तुलना में अधिक व्यवस्थित है। यह नैतिक ज्ञान से वंचित है और इस बात से अंजान है कि क्या अच्छा है क्या बुरा है।
- वह अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए जीता है, अर्थात भोजन, संभोग और आराम-जिसे वह आसानी से संतुष्ट कर सकता है। वह सीधा है और उसके पास जो कुछ भी है उससे खुश है, जबकि सभ्य व्यक्ति स्वार्थ से भरा होता है। प्राथमिक मनुष्य की विशेषता दया और सहानुभूति है।

प्र. क्या अमर्त्य सेन की न्याय की अवधारणा रॉल्स के न्याय के सिद्धान्त का एक परिष्कृत रूप है? विवेचना कीजिए।

उत्तर: जॉन रॉल्स के अनुसार न्याय सिद्धांत का उद्देश्य प्रक्रिया या नियमों की खोज होनी चाहिए। यदि प्रक्रिया या नियम निष्पक्ष एवं न्यायपूर्ण हैं तो परिणाम भी न्यायपूर्ण होगा। अत: रॉल्स ने निष्पक्षता पर आधारित प्रक्रिया या नियमों की खोज को अपने न्याय सिद्धांत का केन्द्रबिन्दु माना है।

- रॉल्स के अनुसार न्याय की मुख्य समस्या प्राथमिक वस्तुओं के न्यायपूर्ण वितरण की समस्या है। प्राथमिक वस्तुओं से इसका आशय स्वतंत्रता, अधिकार, शक्ति, अवसर, संपत्ति तथा आत्म सम्मान के साधनों से है।

- रॉल्स के अनुसार, यदि सभी व्यक्तियों को उनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति से पृथक करके एक काल्पनिक स्थिति में रख दिया जाये तो ऐसी स्थिति में सभी व्यक्ति हीनतम स्थिति में होने की आशंका से ग्रस्त हो जायेंगे। रॉल्स के न्याय सिद्धांत की मुख्य विशषता यह है कि उसने सीधे बाजार व्यवस्था को प्रक्रियात्मक न्याय व्यवस्था का प्रारूप नहीं स्वीकारा।

न्याय के विषय पर सेन निम्नलिखित महत्वपूर्ण बिन्दुओं के लिए तर्क देते हैं-

(i) न्याय का सिद्धांत इस अर्थ में व्यावहारिक होना चाहिए की इसे वास्तविक परिस्थितियों में मार्गदर्शन प्रदान करना चाहिए न कि केवल आदर्श परिस्थितियों में।

(ii) यद्यपि न्याय के अबोधगम्य कारणों की बहुलता हो सकती है फिर भी विचारों के बीच संमलावों से उत्पन्न मामलों की एक विस्तृत श्रृंखला पर मूल्यांकन का निर्धारण हो सकता है।

(iii) न्याय आपसी लाभ के बजाय किसी प्रकार की निष्पक्ष चिंता पर आधारित है।

(iv) न्याय देशों के लिए टर्नल मामलों तक ही सीमित नहीं है।

(v) न्याय का संबंध लोगों के जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव से है। न कि एक अच्छे जीवन के औपचारिक साधनों के साथ

(vi) न्याय लोगों की क्षमताओं से केंद्रित रूप से चिंतित है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि अमर्त्य सेन की न्याय की अवधारणा रॉल्स के न्याय के सिद्धांत का एक परिष्कृत रूप है।

प्र. क्या सामाजिक संविदा का सिद्धान्त मानवीय अधिकारों के विभिन्न मुद्दों को पर्याप्त रूप से सम्बोधित करता है? मूल्यांकन कीजिए।

उत्तर: सामाजिक संविदा कहने से प्राय: दो अर्थों का बोध होता है प्रथमत: सामाजिक संविदा विशेष, जिसके अनुसार प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले कुछ व्यक्तियों ने संगठित समाज में प्रविष्ठ होने के लिए आपस में संविदा या ठहराव किया। अत: यह राज्य की उत्पत्ति का सिद्धांत है। दूसरे को सरकारी संविदा कह सकते है।

इस संविदा या ठहराव का राज्य की उत्पत्ति से कोई संबंध नहीं वरन राज्य के अस्तित्व की पूर्व कल्पना कर यह उन मान्यताओं का विवेचन करता है। जिन पर इस राज्य का शासन प्रबंध चले।

- ऐतिहासिक विकास में संविदा के इन दोनों रूपों का तार्किक क्रम सामाजिक संविदा की चर्चा के बाद आरंभ हुआ। परन्तु जब संविदा के आधार पर ही समस्त राजनीतिक शास्त्र का विवेचन प्रारंभ हुआ तब इन दोनों प्रकार की संविदाओं का प्रयोग किया जाने लगा।
- यद्यपि सामाजिक संविदा का सिद्धांत अपने अंकुर रूप में सुकरात के विचारों, सोफिस्ट राजनीतिक दर्शन एवं रोमन विधान में मिलता है। परन्तु कालांतर में सरकारी संविदा के स्थान पर सामाजिक संविदा को ही हॉब्स, लॉक और रूसों द्वारा प्रश्रय प्राप्त हुआ। स्पष्ट: सामाजिक संविदा में विश्वास किए बिना सरकारी संविदा की विवेचना नहीं की जा सकती परन्तु सरकारी संविदा पर विश्वास किए बिना सामाजिक संविदा का विवेचन संभव है।
- सामाजिक संविदा द्वारा निर्मित समाज शासक और शासित के बीच अन्तर किए बिना और इसलिए उनके बीच एक अन्य संविदा की संभावना के बिना भी स्वायत्तशासित हो सकता है। यह रूसो का सिद्धांत था।

प्रभुसत्ता

प्र. क्या ऑस्टिन का संप्रभुता का सिद्धान्त प्रजातंत्र के साथ संगत है? विवेचना कीजिए।

उत्तर: ऑस्टिन ने अपने संप्रभुता संबंधी विचारों का प्रतिपादन अपनी पुस्तक 'लेक्चर्स ऑन जूरिसप्रूडेंस' में किया है।

- ऑस्टिन सम्प्रभुता को कानून का स्रोत मानते हैं। वे संप्रभुता को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि-"यदि कोई निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति, जो ऐसे ही किसी अन्य श्रेष्ठ व्यक्ति की आज्ञा पालन करने का आदि नहीं है, समाज के बहुत बड़े भाग से अपनी आज्ञा का पालन सहज रूप से करा लेता है तो वह निश्चित श्रेष्ठ व्यक्ति प्रभुसत्ताधारी है और वह समाज, राजनीतिज्ञ व स्वतंत्र समाज है।
- कानून एक श्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा निम्न व्यक्ति को दिया जाने वाला आदेश है। समाज के सभी अन्य सदस्यों की स्थिति पराधीनता अथवा पराश्रितता की है। प्रत्येक कानून का प्रत्यक्ष अथवा निर्माता प्रभुसत्ताधारी है।"

दी गई परिभाषा से निम्न निष्कर्ष निकालता है।

1. प्रत्येक राज्य में ऐसा निर्दिष्ट उच्चतर मनुष्य होता है। जिसकी आज्ञा समाज के बहुसंख्यक नागरिक स्वभावत: मानते हैं।
2. यह उच्चतर मनुष्य जो कुछ भी आदेश देता है वही कानून होता है और उसके आदेशों के बिना कोई कानून नहीं बन सकता।
3. इस उच्चतर मनुष्य की शक्ति जिसे संप्रभुता कहते हैं, अविभाज्य है। ऑस्टिन का कहना है कि प्रभुसत्ता को विभिन्न समुदायों में विभाजित नहीं किया जा सकता।
4. यह संप्रभु परमपूर्ण है और इस पर प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता।

शासन के प्रकार

प्र. क्या राजतंत्र, शासन की एक व्यवस्था के रूप में वैयक्तिक स्वतंत्रता के लिए स्थान प्रदान करता है? व्याख्या कीजिए।

उत्तर: ऐतिहासिक दृष्टि से राजतंत्र सबसे प्राचीन शासन प्रणालियों में से एक हैं पाश्चात्य एवं प्राच्य दोनों संदर्भों में इसकी प्राचीनता के साक्ष्य दिखाई देते है। पाश्चात्य दर्शन में प्लेटों ने अपने गणराज्य में 'दार्शनिक राजा' का आदर्श रखा था। अरस्तू ने भी शासन के तीन प्रकारों को बताते हुए उसमें राजतंत्र को महत्वपूर्ण स्थान दिया था।

- भारतीय संदर्भ में भी राजनीतिक विचारकों मनु, कौटिल्य आदि ने राजा के महत्व, नियुक्ती, अधिकार, कर्तव्य आदि की विशद विवेचना प्रस्तुत की है।
- राजतंत्र में राजगद्दी की प्राप्ति या शासन की प्राप्ति राजा शक्ति द्वारा, निर्वाचन द्वारा या पैतृक आधार पर प्राप्त करता है। उल्लेखनीय है कि राजा की पदवी मात्र से कोई राज्य राजतांत्रिक नहीं होता बल्कि सत्ता संचालन में इस व्यक्ति की इच्छा का भी अंतिम रूप से प्राप्त होना आवश्यक है।

सिविल सेवा मुख्य परीक्षा (प्रथम प्रश्न-पत्र)

प्लेटो एवं अरस्तू

प्रत्यय, द्रव्य, आकार एवं पुद्गल, कार्यकारण भाव, वास्तविकता एवं शक्यता

प्र. क्या प्लेटो के प्रत्यय एवं जगत् के बीच संबंध की व्याख्या तार्किक रूप से सुसंगत है? इसके संबंध में अरस्तू के विचारों की विवेचना कीजिए एवं अपने उत्तर के पक्ष में तर्क भी दीजिए। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2018)

उत्तर: प्लेटो के दर्शन में एक महत्वपूर्ण समस्या प्रत्ययजगत व वस्तुजगत के पारस्परिक संबंधों की है। इस संबंध में दो सिद्धांत प्रचलित है- 'प्रतिबिंबवाद' व 'सहभागिता सिद्धांत'। इन दोनों ही सिद्धांतों का प्रयोग प्लेटो से पहले सुकरात संप्रत्यय व विशेष के संबंध की व्याख्या में कर चुके थे।

(I) प्रतिबिंबवाद के अनुसार वस्तुजगत प्रत्यय जगत का प्रतिबिम्ब या अनुकरण है। जब प्रत्ययों का प्रतिबिम्ब जड़ वस्तुओं पर पड़ता है, तो जड़ वस्तुएं भी प्रत्यय जैसे आकार का अनुकरण करने लगती है; किंतु वस्तुजगत जड़ पदार्थ से युक्त होने के कारण प्रत्ययजगत का अनुकरण ही कर सकता है, उसके समान नहीं हो सकता। इस व्याख्या में समस्या यह है कि वस्तु जगत की सत्ता वास्तविक न रह कर आभासी हो जाती है। एक समस्या यह भी उठती है कि यदि अमूर्त है तो उनका प्रतिबिम्ब कैसे बन सकता है और यदि अमूर्त का प्रतिबिम्ब बनेगा भी तो वह मूर्त कैसे हो सकता है?

दूसरी व्याख्या अर्थात् 'सहभागिता सिद्धांत' के अनुसार जगत के सभी विशेष प्रत्यय में भागग्रही होते है। इसके अर्थ को लेकर काफी संशय है। इसका साधारण अर्थ यह है कि जगत में एक वर्ग के जितने भी विशेष है, वे अपने प्रत्यय में भाग लेते है। जो वस्तु जितनी अधिक मात्रा में प्रत्यय में भाग लेती है, वह उतनी ही उच्च स्तरीय होती है। इस व्याख्या का लाभ यह है कि एक वर्ग की वस्तुओं में दिखने वाले अंतरों की व्याख्या इससे हो जाती है। इसका एक लाभ यह भी है कि वह व्याख्या जगत के आभासी या असत् होने से बचाती है। किंतु इस व्याख्या से कुछ और समस्याएं पैदा हो जाती है। सर्वप्रथम इस व्याख्या से वस्तुगत प्रत्ययजगत में अंतर समाप्त हो जाता है क्योंकि वस्तुजगत के विशेषों को प्रत्ययों में सहभागी बताया गया है। विशेष प्रत्यय में कैसे भाग लेते हैं- यह स्पष्ट नहीं किया गया है। इसका एक अर्थ यह हो सकता है कि प्रत्यय अपने वर्ग की सभी वस्तुओं में व्यक्त होता है, इस दृष्टि से वस्तुएं प्रत्ययों की नित्यता खंडित होती है क्योंकि यदि विशेष उनमें सहभागी है तो वे निरवयव या सरल नहीं है; और यदि वे सरल नहीं है तो वे नित्य नहीं है। यही आलोचना भारतीय दर्शन में न्याय वैशेषिक के सामान्य सिद्धांत के विरूद्ध बौद्धों ने की है।

इन दोनों समस्याओं को देखते हुए प्लेटो के कुछ व्याख्याकारों ने एक नये सिद्धांत का जिक्र किया जिसे 'अभिव्यक्तिवाद' कहते हैं। प्रो. जेलर इत्यादि ने इसके समर्थन में यह भी कहा कि प्लेटो ने स्वयं 'पार्मेनाइडीज' नामक संवाद में इस सिद्धांत को व्यक्त किया है। इस व्याख्या के अनुसार वस्तु जगत प्रत्यय जगत का प्रतिबिम्ब नहीं, बल्कि उसकी अभिव्यक्ति है। अभिव्यक्ति कहने से वस्तु जगत की सत्यता भी बनी रहती है और वस्तु जगत व प्रत्यय जगत की भिन्नता भी सुरक्षित रहती है।

(II) (1) प्रत्यय सिद्धांत से जगत की व्याख्या नहीं हो पाती क्योंकि-

(a) प्रत्यय नित्य है, जबकि जगत अनित्य है। नित्य की अभिव्यक्ति अनित्य को कैसे माना जा सकता है?

(b) प्रत्यय अमूर्त है, जबकि जगत मूर्त है। अमूर्त का प्रतिबिम्ब मूर्त कैसे हो सकता है?

(c) प्रत्यय जगत सत् है जबकि वस्तु जगत सत-असत् का मिश्रण है। सत् की अभिव्यक्ति असत् नहीं हो सकती।

(2) प्लेटो के अनुसार प्रत्यय जगत में वस्तु जगत की सभी वस्तुओं के प्रत्यय विद्यमान है। यदि ऐसा है तो क्या प्रत्यय जगत में 'अभाव' या 'निषेध' का प्रत्यय भी विद्यमान है, क्योंकि वस्तु जगत में अभाव व निषेध का अनुभव होता रहता है।

(3) तृतीय व्यक्ति का दोष:- अरस्तु ने प्लेटो के प्रत्ययवाद के विरूद्ध तृतीय व्यक्ति के दोष की समस्या उठाई है। चूंकि एक वर्ग के विशेषों में सामान्य का होना अनिवार्य है, इसलिए यह मानना पड़ेगा कि वस्तु जगत के सुकरात और प्रत्यय जगत के सुकरात का भी सामान्य होना चाहिए। इनका सामान्य इन दोनों से अलग होगा, इसलिए अगले स्तर पर इन तीनों के सामान्य

का प्रश्न उठेगा। इस प्रकार यह समस्या अनवस्था दोष को उत्पन्न करेगी। इस समस्या का मूल कारण यह है कि प्लेटो ने प्रत्ययों के आत्मविधेयत्व को स्वीकार किया है। इसका अर्थ है कि सुंदरता का प्रत्यय खुद भी सुंदर होता है। इसे मानने का कारण यह है कि यदि सुंदरता के प्रत्यय के कारण वस्तु सुंदर हो जाती है तो इस प्रत्यय को सुंदर होना ही होगा। किंतु आत्मविधेयत्व मानने के कारण यहां प्रत्यय तुलना का आधार बन जाता है और तृतीय व्यक्ति का दोष पैदा हो जाता है। गिलबर्ट राइल ने इसका समाधान इस रूप में किया है कि प्रत्ययों को वस्तु जगत से तुलनीय नहीं माना जा सकता।

(4) प्रत्यय जगत वस्तु जगत की अनावश्यक पुनरावृत्ति है। आगे चलकर 'ओकम के उस्तरे' का प्रयोग भी इसी संदर्भ में किया गया हैं।

(5) यदि प्रत्यय संख्या हैं तो ये गणित के विषय है, दर्शन के नहीं।

(6) प्रतिबिम्बवाद व सहभागिता सिद्धांत में अंतविरोध है। इन दोनों के माध्यम से प्लेटो प्रत्यय जगत व वस्तु जगत में संबंध नहीं समझ पाये।

वस्तुत: अरस्तू का दावा है कि सामान्य विशेषों में ही रहते है, उनसे परे नहीं रहते। इसका मूल कारण यह है कि जहां प्लेटो की दृष्टि इस जगत से परे अन्य जगत पर लगी हुई थी, वहीं अरस्तू इस जगत के माध्यम से ही सामान्यों की व्याख्या करना चाहता है। इस संदर्भ में अरस्तू ने द्रव्य की परिभाषा ही बदल दी और ऐसी परिभाषा दी जिसके अनुसार सामान्य इसी जगत में रह सकते थे, इस जगत के परे नहीं।

अरस्तू ने प्लेटो के प्रत्यवाद का खंडन किया और अपने कारण ाता सिद्धांत एवं पदार्थ आकार द्वैत के माध्यम से विसंगतियों को दूर करने का प्रयास किया। अरस्तू ने प्लेटो के विचार के विपरीत द्रव्य की परिभाषा सामान्ययुक्त विशेष कहकर की किंतु अंतत: उसे शुद्ध आकार या ईश्वर को द्रव्यत्व प्रदान करना पड़ा। अरस्तू के अनुसार प्लेटो यह स्पष्ट नहीं कर सका था कि प्रत्ययों से वस्तुएं कैसे उत्पन्न होती हैं। अरस्तू ने सामान्य की सत्ता जगत में ही स्वीकार की। अरस्तू का आरोप है कि प्लेटो जड़, जगत एवं प्रत्यय जगत के द्वैत की तार्किक व्याख्या नहीं कर सका। जबकि अरस्तू ने जगत की वस्तुओं के संदर्भ में वह पदार्थ तथा आकार के द्वैत की सुसंगत व्याख्या की। अरस्तू के बारे में प्रो. श्रेलर ने कहा है कि अरस्तू जितना प्लेटो से स्वतंत्र होना चाहता है उतना ही उसके प्रभाव में आता जाता है।

प्र. किस अर्थ में प्रत्यय अंतर्यामी और इंद्रियातीत दोनों ही हो सकते हैं? इस सन्दर्भ में प्लेटो के सामान्य और विशेषों के सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2017)

उत्तर: प्लेटो के प्रत्यय सामान्य सत्ता है। सामान्य वास्तविक सत्ता है, मानव के मन की कल्पना नहीं। प्लेटो को सामान्यों के यथार्थवादी सिद्धांत का प्रवर्तक कहा जाता है। वह सामान्यों के एक पृथक लोक की बात करते हैं।

प्लेटो सामान्य और विशेषों को एक ही जगत के अन्तर्गत सत् मानते हैं। प्लेटो का मानना है कि वस्तुएं प्रत्ययों में भाग लेती हैं। सभी सुन्दर वस्तुएं सुंदरता के प्रत्यय में भाग लेती हैं। इसी प्रकार अन्य वस्तुएं अपने-अपने वर्ग की प्रत्ययों में भाग लेती हैं। इस दृष्टि से प्रत्यय वस्तुओं से परे हैं। किन्तु वे वस्तुओं से परे होने के साथ-साथ उनमें व्याप्त भी हैं। यहां पर व्याप्त होने का निहितार्थ यह है कि वस्तुएं अपने सामान्य रूप में उनमें निहित हैं। प्रत्ययों का अस्तित्व अपने वर्ग की वस्तुओं के उद्भव एवं विनाश से स्वतंत्र है। सभी सुन्दर वस्तुओं के नष्ट हो जाने पर भी सुन्दरता का प्रत्यय अस्तित्वयुक्त रहेगा। इसलिए प्रत्ययों को नित्य कहा जाता है। वे किसी वस्तु के उद्भव, विनाश और विकास से प्रभावित नहीं होती है। किन्तु प्रत्ययों और वस्तुओं के संबंध की व्याख्या इस सिद्धांत के द्वारा भी नहीं हो सकता है। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो प्राकृतिक जगत और प्रत्यय जगत का भेद समाप्त हो जाता है। किन्तु प्लेटो दोनों में स्पष्ट भेद करता है। इस सिद्धांत के अनुसार जगत की वस्तुएं प्रत्ययों के वास्तविक अंश हैं। इसके फलस्वरूप प्रत्ययों और वस्तुओं का भेद ही समाप्त हो जाता है। वस्तुत: ये दोनों ही सिद्धांत इन्द्रिय जगत और प्रत्यय जगत के संबंध का निरूपण करने के लिए सुकरात के द्वारा निर्दिष्ट प्रतीत होते हैं। प्लेटो के ये सिद्धांत मान्य नहीं होंगे। प्लेटो के अनुसार इस जगत की वस्तुएं न तो प्रत्ययों के प्रतिबिम्ब हैं और न उनमें सहभागी या उनके अंश हैं, बल्कि ये प्रत्ययों की अभिव्यक्तियां हैं। अंश और प्रतिबिम्ब से प्लेटो का तात्पर्य अभिव्यक्ति से है। वस्तुत: प्लेटो ने पार्मेनाइडीज ने सुकरात की मान्यताओं में संशोधन किया है। वह इस आनुभविक जगत को न तो प्रत्ययों का अंश और न ही प्रत्ययों का प्रतिबिम्ब मानता है। वह इस जगत की वस्तुओं को प्रत्ययों की अभिव्यक्ति मानता है।

प्र. अरस्तू के आकार और भौतिक द्रव्य के सिद्धान्त की व्याख्या कीजिये। यह अरस्तू को कैसे परिवर्तन (गति) एवं स्थायित्व की समस्या के समाधान के लिये समर्थ बनाता है?

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2017)

उत्तर: अरस्तू ने आकार और द्रव्य को स्वरूपत: एक-दूसरे से पृथक नहीं माना है। अरस्तू के अनुसार वस्तु जगत में ऐसी कोई वस्तु नहीं मिलती जिसमें केवल जड़ द्रव्य हो, अर्थात जिसमें लेशमात्र भी आकार न हो। इसी प्रकार ऐसी भी कोई वस्तु दृश्य नहीं है जिसमें केवल आकार हो और लेशमात्र भी जड़ द्रव्य न हो। दूसरे शब्दों में, व्यावहारिक दृष्टि से निराकार द्रव्य और द्रव्यहीन आकार दोनों असंभव है। प्रत्येक वस्तु द्रव्य और आकार दोनों का संघात है। यद्यपि द्रव्य और आकार एक-दूसरे से भिन्न स्वभाव वाले हैं, फिर भी उनके परस्पर विरोधी स्वभाव के कारण उनके बारे में तार्किक दृष्टि से अलग-अलग विचार किया जा सकता है। अरस्तू का मानना है कि सामान्य (आकार) विशेष निरपेक्ष (जड़ द्रव्य) से पृथक नहीं रह सकता है। निरपेक्ष अथवा पूर्ण आकार और निरपेक्ष जड़ द्रव्य का इस दृश्य जगत में कहीं भी दर्शन नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि अरस्तू की आकार एवं जड़ द्रव्य विषयक अवधारणा व्यावहारिक दृष्टि से सापेक्ष है। कोई वस्तु एक दृष्टि से द्रव्य है तो दूसरी दृष्टि से आकार है।

अरस्तू के अनुसार जिसका परिवर्तन होता है वह जड़ द्रव्य है और जिस ओर परविर्तन होता है वह आकार है। उसने आकार को वास्त. विकता और जड़ द्रव्य को संभाव्यता कहा है। द्रव्य वास्वत में असत् होता है किन्तु उसमें प्रत्येक वस्तु के आकार में रूपांतरित होने की क्षमता अन्तर्निहित होती है। इस कारण अरस्तू द्रव्य को अन्त:शक्ति या अव्यक्त क्षमता कहता है। अरस्तू के द्वारा द्रव्य को एक निश्चित रूप प्राप्त होता है। इससे सिद्ध होता है कि किसी वस्तु का आकार इसकी

इंद्रियानुभव वाद (लॉक, बर्कले, ह्यूम)

ज्ञान का सिद्धांत, द्रव्य एवं गुण, आत्मा एवं परमात्मा, संशयवाद

प्र. क्या ह्यूम के लिए इन दो सत्यों- 'कल सूर्योदय होगा' एवं '2+2=4' में समान अनिवार्यता है? अपने उत्तर के पक्ष में तर्क दीजिए। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2018)

उत्तर: अनुभववादी दार्शनिक ह्यूम ने आगमन पर आधारित ज्ञान की अनिवार्यता का खंडन किया है, जिसके कारण उसके दर्शन को अन्ततः संशयवाद की परिणति पर पहुंचना पड़ा। आगमन का अर्थ है- विशेष अनुभवों के आधार पर किसी नियम का निर्माण करना।

ह्यूम का मानना है कि घटना जगत के ज्ञान के लिए हमारी क्षमता हमारे निरीक्षण की संभावनाओं पर आश्रित है। अतः तर्कशास्त्र और गणित (जैसे 2+2=4) के क्षेत्र से जुड़े हुए संबंधों को हम जितना निश्चयपूर्वक समझ सकते हैं, प्रकृति और मानव व्यवहार (जैसे- 'कल सूर्योदय होगा') को उतना निश्चयापूर्वक समझना संभव नहीं है। कई काम ऐसे हैं जिन्हें तर्कबुद्धि नहीं कर सकती। प्रकृति और समाज को समझने में हमारा निरीक्षण जो भूमिका निभाता है वह भूमिका तर्कबुद्धि नहीं निभा सकती।

ह्यूम की ज्ञानमीमांसा के अनुसार हमारा समस्त ज्ञान संवेदन और स्वसंवेदन के संस्कारों तथा उन्हीं पर निर्भर प्रत्ययों से निर्मित होता है। ये सभी प्रत्यय एक दूसरे से स्वतंत्र होते हैं। यह विचार मनोवैज्ञानिक परमाणुवाद कहलाता है। इन सभी प्रत्ययों में हमारी कल्पना साहचर्य नियम के आधार पर कुछ संबंध जोड़ देती है, जिसके कारण कारणता जैसे नियमों का आगमनात्मक पद्धति से निर्माण होता है। ह्यूम का स्पष्ट मत है कि स्वतंत्र प्रत्ययों में कोई अनिवार्य और वस्तुगत संबंध नहीं है। अतः ये सभी संबंध केवल आत्मगत और आकस्मिक है जो कुछ प्रत्ययों के नियत साहचर्य को देखकर प्रत्याशा तथा परम्परा से पुष्ट होकर विश्वास बन जाते है।

ह्यूम का मत है कि आगमन से संबंधित प्रत्येक विश्वास को उतना ही महत्व दिया जाना चाहिए जितना वस्तुतः आवश्यक है। कुछ काल्पनिक विश्वास या अंधविश्वास अत्यंत सीमित आगमन से बनाए जाते है जो निरर्थक है तथा पूर्णतः अविश्वसनीय है। इसके विपरीत, कारणता निमय आदि सिद्धान्त आगमन पर आधारित होने के बाद भी प्राकृतिक विश्वास (जैसे- कल सूर्योदय होगा) है, जो व्यावहारिक जीवन की प्रायः सभी घटनाओं की व्याख्या करने में समर्थ है। इन्हें व्यावहारिक जीवन के संचालन में उपयोगी मानना चाहिए किन्तु इसके बाद भी यह हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि आगमन से निष्कर्षित होने वाले नियम सिर्फ विश्वास की वस्तु है उन्हें अनिवार्य तथा वस्तुगत मानना और सिद्ध करने का प्रयास करना उचित नहीं है।

कुछ दार्शनिक आगमन पर आधारित नियमों को 'प्रकृति की एकरूपता के नियम' से सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। ऐसा प्रयास मुख्यतः जे.एस.मिल ने किया। इस तर्क के अनुसार सम्पूर्ण प्रकृति कुछ निश्चित नियमों के आधार पर कार्य करती है और उन्हीं नियमों के आधार पर किसी घटना की पूर्व घोषणा अनिवार्य अर्थ में की जा सकती है। ह्यूम का उत्तर है कि प्रकृति की एकरूपता स्वयं एक अनुमान है क्योंकि न तो इसका संवेदन संस्कार मिलता है और न ही स्वसंवेदन संस्कार। इसका ज्ञान आकारिक रूप में भी नहीं हो सकता क्योंकि यह वास्तविक जगत की व्याख्या करता है। वस्तुतः बहुत सारी प्राकृतिक घटनाओं के निश्चित साहचर्य के आधार पर ही प्रकृति की एकरूपता का आगमनात्मक सामान्यीकरण निर्भर है। इससे भूत और वर्तमान के अनुभवों की संभावित व्याख्या भले हो जाए, भविष्य पर तो इसका प्रयोग करना पूर्णतः निरर्थक ही है। कुछ अन्य दार्शनिकों ने सापेक्ष आवृत्ति के सिद्धांत के माध्यम से आगमन की अनिवार्यता को सिद्ध करना चाहा, तो ह्यूम ने सापेक्ष आवृत्ति को नियत साहचर्य का समानार्थी मानकर इस मत का भी खंडन कर दिया।

आगमन का खंडन करने से मुख्यतः ह्यूम कारणता नियम का खंडन करता है किन्तु कारणता नियम खण्डित होने से जड़, आत्मा और ईश्वर तीनों खंडित हो जाते है। इस अर्थ में आगमन का खंडन ह्यूम की समस्त तत्वमीमांसा का निर्धारण करता है।

प्र. कैसे ह्यूम के अनुभव का विश्लेषण किसी स्थायी सत, चाहे वह भौतिक हो या मानसिक, में विश्वास के लिए कोई आधार नहीं छोड़ता है। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2017)

उत्तर: ह्यूम के अनुसार तथ्यात्मक ज्ञान का आधार प्रत्यक्ष अनुभव है। तथ्यात्मक ज्ञान का संबंध वस्तु जगत से है। चूंकि यह ज्ञान इंद्रियानुभव पर आधारित होता है इसलिए इसे सार्वभौम और अनिवार्य नहीं कहा जा सकता है। अनुभव के द्वारा केवल विशेषों का ही ज्ञान हो सकता है। हमारा वस्तु जगत का ज्ञान संभाव्य या प्रायिक सत्य की कोटि में आता है। ह्यूम के अनुसार सार्वभौम और अनिवार्य नियमों की स्थापना अनुभव के द्वारा नहीं हो सकती। अतः हमारा वस्तु जगत का ज्ञान अनिवार्य एवं सार्वभौम रूप से सत्य नहीं हो सकता। प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र में अनिवार्य एवं सार्वभौम नियमों की स्थापना नहीं की जा सकती है। प्राकृतिक नियमों को तार्किक दृष्टि से सिद्ध नहीं किया जा सकता है। इनमें विश्वास का आधार आगमनात्मक सामान्यीकरण है।

ह्यूम के अनुसार हमारा तथ्यात्मक कथनों की अनिवार्य एवं सार्वभौम सत्ता में विश्वास कामचलाऊ, तदर्थ और मनोवैज्ञानिक है। हमारा प्राकृतिक जगत का ज्ञान कारण-कार्य नियम पर आधारित है, किंतु कारण-कार्य की अनिवार्यता और सार्वभौमिकता भी एक मनोवैज्ञानिक विश्वास मात्र है। इस प्रकार कारण-कार्य नियम की सत्यता भी संभाव्य (प्रायिक)

है। कारण कार्य नियम के आपातिक एवं संदिग्ध होने के कारण हमारा वस्तु जगत का ज्ञान भी अप्रामाणिक, अनिश्चित एवं संभाव्य हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तु जगत का ज्ञान संदेहास्पद है।

ह्यूम के मुताबिक आत्मा ईश्वर आदि की प्रतीति किसी संवेदन अथवा स्वसंवेदन एवं उनसे उत्पन्न प्रत्ययों के द्वारा नहीं हो सकती है। हमें संस्कारों, प्रत्ययों के अलावा अन्य किसी तत्व की अनुभूति प्रतीत नहीं होती। ह्यूम के अनुसार अनुभव के द्वारा ईश्वर की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती क्योंकि प्रत्यक्ष अनुभूतियों के द्वारा ईश्वर के स्वस्थ्य, गुण, शक्ति तथा प्रयोजन के विषय में कुछ नहीं प्रदर्शित किया जा सकता।

प्र. लॉक किस प्रकार मूल गुणों और गौण गुणों के बीच भेद करता है? क्या वह मूल गुणों के प्रत्यय और मूलगुणों के साथ साथ गौण गुणों के प्रत्यय और गौण गुणों के बीच भी भेद करता है? विवेचना कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2017)

उत्तर: गुण द्रव्य की वह शक्ति है जिसके कारण आत्मा में प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। लॉक के अनुसार मूलगुण द्रव्य की वह शक्ति है जो द्रव्य में वास्तव में पाया जाता है। इसे भौतिक द्रव्य का अनिवार्य लक्षण कहा जा सकता है। जब हमारी ज्ञानेन्द्रियों का सन्निकर्ष वस्तुओं के मूलगुणों से होता है तो ये मूलगुण आत्मा में अपनी संवेदना उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार संवेदनाओं के माध्यम से हमारी आत्मा में मूलगुणों का एक प्रतिबिम्ब अंकित हो जाता है। इस प्रतिबिम्ब को ही प्रत्यय कहते हैं। घनत्व, विस्तार, आकार, आकृति, गति, विराम, संख्या आदि मूलगुण हैं। ये मूल गुण भौतिक वस्तुओं के साथ-साथ पाए जाते हैं। अत: लॉक मूलगुणों को वस्तुनिष्ठ कहता है। ये हमारी आत्मा की कल्पना नहीं है। इससे स्पष्ट है कि मूलगुण वस्तुओं में पाये जाते हैं, आत्मा में नहीं। ये मूलगुण हमारी आत्मा में अपना प्रत्यय उत्पन्न करते हैं। लॉक के अनुसार इन मूलगुणों को माना जा सकता है। इनके गणितीय होने के कारण इनका स्पष्ट ज्ञान हो सकता है। वस्तुत: इन्हें परिमाणात्मक दृष्टि से व्यक्त किया जाता है।

मूलगुणों की दूसरी महत्वपूर्ण भूमिका हमारी आत्मा में उपगुणों में प्रत्यय उत्पन्न करने में है। उपगुणों का ज्ञान परोक्ष रूप में होता है। रंग, स्वाद, गंध, शीतलता, उष्णता इत्यादि को उपगुण कहा जा सकता है। लॉक के अनुसार उपगुण वास्वत में वस्तुओं में नहीं पाये जाते हैं। ये आत्मनिष्ठ हैं किन्तु उपगुणों के आत्मनिष्ठ होने पर भी उसको उत्पन्न करने की शक्ति हमारी आत्मा में नहीं है। उपगुणों को उत्पन्न करने की शक्ति भी वस्तुओं के मूलगुणों में ही होती है। लॉक उपगुणों का आश्रय वस्तुओं को नहीं मानता, किन्तु उपगुणों के संवेदन वस्तुओं के वास्तविक गुणों के द्वारा ही उत्पन्न किए जाते हैं। हम अपनी आत्मा में स्वेच्छानुसार सफेदी, लालिमा, मीठापन, सुगंध, सुरीली ध्वनि इत्यादि उपगुणों को उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। किन्तु एक ही वस्तु (जैसे मिठाई अथवा चाय) किसी व्यक्ति को अधिक मीठी तो किसी को कम मीठी, किसी को अधिक गर्म तो किसी व्यक्ति को कम गर्म प्रतीत होती है। इससे सिद्ध होता है कि उपगुण आत्मनिष्ठ है। लॉक के अनुसार यदि ये उपगुण वस्तुनिष्ठ होते तो सभी लोगों को समान रूप से अनुभूत होते। उपगुण वस्तुओं के गुणात्मक पक्षों से संबंधित होते हैं। लॉक ने उपगुणों को संवेद्य और मूलगुणों को असंवेद्य कहा है। इन उपगुणों के प्रत्यय बाह्य वस्तुओं को प्रतिबिम्बित नहीं करते हैं। किन्तु बाह्य वस्तुओं की ओर संकेत करते हैं। वस्तुत: उपगुण वस्तुओं की उस शक्ति की ओर संकेत करते हैं जो हमारे मन में उपगुणों के प्रत्ययों को उत्पन्न करती है। उपगुणों के प्रत्यय प्रत्यक्ष के कारणात्मक सिद्धांत की ओर संकेत करते हैं। इसी प्रकार मूलगुणों के प्रत्यय जो वस्तुओं में पाए जाने वाले वास्तविक गुणों के प्रतिबिम्ब हैं, प्रत्यय प्रतिनिधित्ववाद का प्रतिपादन करते हैं।

प्र. लॉक के संदर्भ में द्वितीयक गुणों की अवधारणा को लागू करने की तार्किक आवश्यकता क्या है? कारणों सहित उत्तर दें। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2016)

उत्तर: लॉक ने अपने अनुभववाद में दो गुणों की चर्चा की है। ये हैं- प्राथमिक एवं द्वितीयक गुण। लॉक के अनुसार प्राथमिक गुण द्रव्य की वह शक्ति है जो द्रव्य में वास्तव में पाया जाता है और इसकी एक महत्वपूर्ण भूमिका है आत्मा में द्वितीयक गुण के प्रत्यय उत्पन्न करना। ये उपगुण वस्तुओं में नहीं पाए जाते बल्कि ये आत्मनिष्ठ होते हैं। ये द्वितीयक गुण बाह्य वस्तुओं को प्रतिबिम्बित भले ही न करते हों परंतु ये वस्तुओं की उस शक्ति की ओर संकेत करते हैं जो हमारे मन में उपगुणों के प्रत्ययों को उत्पन्न करती हैं। लॉक के अनुभववाद में अनुभव ही ज्ञान का स्रोत है। ज्ञान की विषय वस्तु पदार्थ हैं और ये द्वितीयक गुणों के बिना वस्तुओं/पदार्थों का गुणात्मक ज्ञान होना मुश्किल हो जाएगा। ये द्वितीयक गुण ही लॉक की ज्ञानमीमांसा में प्रत्यय के कारणता सिद्धांत को प्रमाणित करते हैं। अगर द्वितीयक गुणों की कल्पना नहीं की जाए तो लॉक के ज्ञानमीमांसा में सभी लोगों के ज्ञान की विषयवस्तु अर्थात पदार्थ एक ही समान दिखाई पड़ता या समान अनुभव होता। वैसी स्थिति में यह ज्ञान अव्यावहारिक माना जाता।

प्र. कारण तथा प्रभाव के संबंध पर ह्यूम के विचारों का आलोचनात्मक मूल्यांकन करें। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2016)

उत्तर: ह्यूम के अनुसार प्रत्येक कार्य सकारण है इसे तर्कत: सिद्ध नहीं किया जा सकता है। कारणता की प्रचलित मान्यता के अनुसार कार्य और कारण कही जाने वाली घटनाओं में अनिवार्य संबंध पाया जाता है। यहां पर अनिवार्य संबंध का अर्थ यह है कि प्रत्येक कार्य अनिवार्यत: अपने कारण से उत्पन्न होता है। किंतु कारण कार्य संबंध के बीच अनिवार्यता को स्वीकार नहीं करता है क्योंकि अनिवार्यता के प्रत्यय के अनुरूप हमें कोई संस्कार नहीं प्राप्त होता है। प्रश्न उठता है कि यदि कारण कार्य संबंध अनिवार्य नहीं है तो अनिवार्यता की अवधारणा कहां से आती है? अर्थात हम कारण कार्य संबंध पर अनिवार्यता का आरोपण क्यों करते हैं? ह्यूम के अनुसार कारण कार्य संबंध पर आरोपित अनिवार्यता वास्तविक नहीं, बल्कि एक मनोवैज्ञानिक भावना मात्र है। ह्यूम यह प्रश्न करता है कि कारणता के प्रत्यय के अनुरूप कौन-सा संस्कार है? क्या कारणता कही जाने वाली वस्तुओं अथवा घटनाओं का गुण है? हमें ऐसी किसी शक्ति या गुण का संस्कार नहीं प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए अग्नि का स्पर्श करने पर हमें केवल अग्नि और उसके बाद हाथ-पैर जलने का अनुभव मात्र होता है। अग्नि की किसी दहिक शक्ति का अनुभव नहीं होता है। ह्यूम के अनुसार दो घटनाओं के नियत (शाश्वत) संयोग के अतिरिक्त हमें अन्य किसी

सिविल सेवा मुख्य परीक्षा (द्वितीय प्रश्न-पत्र)

सामाजिक एवं राजनैतिक आदर्श

समानता, न्याय, स्वतंत्रता

प्र. उदारवादी लोकतंत्र से क्या अभिप्राय है? क्या सामाजिक संसक्ति का वैयक्तिक अधिकारों की अपनी प्रबल अभिपुष्टि के साथ संतुलन बैठाने के लिए, इसको अपेक्षाकृत अधिक गहन सिद्धांतों की आवश्यकता है? भारतीय सन्दर्भ से कारण प्रस्तुत कीजिए। (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2018)

उत्तर: आधुनिक युग में लोकतंत्र की मुख्य धारा को 'उदार लोकतंत्र' के नाम से जाना जाता है क्योंकि लोकतंत्र का सिद्धांत उदा. रवादी दर्शन की कोख से ही पैदा हुआ है। ये धारणाएं परस्पर इतनी संबद्ध हो गई है कि यदि लोकतंत्र शब्द के साथ कोई विशेषण न लगाया जाए तो सामान्यत: उसे 'उदार लोकतंत्र' के अर्थ में ही समझा जाता है।

उदारवाद का आरंभ पूंजीवाद के उदय से संबंधित है। उदारवाद वह दर्शन है, जिसने उभरते हुए पूंजीवादी या बुर्जुआ वर्ग के आर्थिक सपनों को सैद्धांतिक आधार उपलब्ध कराया। पूंजीवाद के कारण तीव्र औद्योगीकरण एवं शहरीकरण हुआ जिससे मजदूर वर्ग शहरों में रहने लगा। खुले बाजार की प्रतिस्पर्धा तथा राज्य की 'अहस्तक्षेप की नीति के कारण मजदूर वर्ग की दुर्दशा होने लगी। आगे चलकर यह वर्ग अपनी विशाल संख्या के प्रति सजग हुआ तथा इसने दुर्दशा से उबरने के लिए राजनीतिक अधिकारों की मांग करनी आरंभ कर दी। पूंजीवादी व्यवस्था को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए मजदूर वर्ग को राजनी. तिक अधिकार सौंपने पड़े। इस प्रकार उदारवादी दर्शन ने 'मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था' के समर्थन के साथ 'वयस्क मताधिकार' का भी समर्थन किया। यहां आकर उदारवाद तथा लोकतंत्र के सिद्धांत परस्पर संबद्ध हो गए तथा 'उदार लोकतंत्र' की उत्पत्ति हुई।

उदारवादी दर्शन पिछली चार शताब्दियों में लगातार परिवर्तित होता रहा है तथा इन्हीं परिवर्तनों के साथ-साथ इस दर्शन के लोकतंत्र संबंधी विचार भी बदलते गए हैं। वर्तमान समय में उदार लोकतंत्र के अंतर्गत निम्नलिखित सिद्धांत शामिल हैं।

(i) उदार लोकतंत्र का प्रतिष्ठित/क्लासिकी/परंपरागत/लोकप्रिय सिद्धांत;
(ii) उदार लोकतंत्र का विशिष्टवर्गीय सिद्धांत;
(iii) उदार लोकतंत्र का बहुलवादी सिद्धांत;
(iv) सहभागी लोकतंत्र का सिद्धांत;

ऐतिहासिक विकास:-

उदार लोकतंत्र का परंपरागत सिद्धांत आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का परिणाम है। पुनर्जागरण तथा सुधारवाद के आंदोलनों ने व्यक्ति के मूल्य को सर्वोच्चता प्रदान करते हुए तमाम चिंतन का केंद्र 'व्यक्ति' को माना। व्यक्ति को साधन के स्थान पर साध्य मानने की प्रवृत्ति का विकास हुआ। हॉब्स ने स्पष्टत: कहा कि राज्य व्यक्तियों के समझौते का परिणाम है, अत: व्यक्ति राज्य से अधिक महत्वपूर्ण है। लॉक ने सत्ता को जनता की सहमति का परिणाम माना, सत्ता को जनता द्वारा सरकार को सौंपी गई अमानत के रूप में परिभाषित किया तथा प्राकृतिक अधिकारों का सिद्धांत देकर स्पष्ट किया कि कोई भी राज्य व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों का उल्लंघन नहीं कर सकता। इंग्लैंड की क्रांतियों (1649 तथा 1688 ई.) ने राजा के अधिकारों पर अंकुश लगाते हुए संसद के सर्वोच्च अधिकार को स्थापित किया।

18वीं शताब्दी में बुद्धिवादी दार्शनिक मांटेस्क्यू ने स्वतंत्रता के विचार को महत्व दिया तथा राज्य की तीनों शक्तियों के केंद्रीकरण को चुनौती देते हुए शक्ति पृथक्करण के सिद्धांत की सिफारिश की। इसी शताब्दी में रूसों ने लोकतंत्र की आत्मा के रूप में सामान्य इच्छा का सिद्धांत दिया। इसी मेबले हैलविटियस तथा होलबैक ने मानव की समानता के प्रश्न उठाए। इस सदी के अंत में अमेरिका एवं फ्रांस की क्रांतियों ने लोकतंत्र के सिद्धांत को व्यावहारिक रूप प्रदान किया।

19वीं सदी में उदार लोकतंत्र का सिद्धांत उपयोगितावाद के साथ संबद्ध हुआ और बेंथम तथा मिल के रूप में इसे दो प्रतिपादक मिले। इन्होंने लोकतंत्र का समर्थन इस आधार पर किया कि यह सरकार अधि कतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख साधनें में सक्षम है। बेंथम ने स्पष्ट रूप से प्रतिनिधि सरकार का सिद्धांत दिया और पढ़े-लिखे लोगों के लिए वयस्क मताधिकार की भी सिफारिश की। मिल ने माना कि लोकतंत्र का उद्देश्य व्यक्ति तथा उसकी सभी प्रतिभाओं का विकास है। उसने विचारों तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना। महिलाओं तथा अल्पसंख्यकों के अधिकारों की चर्चा करके उसने उदारवादी परंपरा का नए ढंग से सूत्रपात किया।

20वीं सदी में उदार लोकतंत्र के अंतर्गत वयस्क मताधिकार का विकास हुआ। प्रत्येक को वोट देने का समान अधिकार दिया गया। इस शताब्दी में बार्कर, ड्यूवी, लिंडसे, लास्की आदि चिंतकों ने उदार लोकतंत्र का समर्थन किया।

<u>प्रमुख धारणाएं</u> :-

उदार लोकतंत्र के प्रतिनिधि सिद्धांत की प्रमुख मान्यताएं इस प्रकार हैं।

(i) प्रत्येक व्यक्ति एक बौद्धिक और चिंतनशील प्राणी है तथा स्वयं में साध्य है। चूंकि वह चिंतनशील है, इसलिए वह अपने ऊपर स्वयं शासन कर सकता है। उसे किसी अन्य के शासन की आवश्यकता नहीं है। प्रतिनिधियों के माध्यम से अपने ऊपर

स्वयं शासन करने की पद्धति की उदार-लोकतंत्र कहलाती है।

(ii) चूंकि प्रत्येक व्यक्ति साध्य है और उसने सरकार का गठन स्वयं अपने लिए किया है, इसलिए राजनीतिक सत्ता सरकार का अधिकार नहीं, बल्कि उसके पास संरक्षित जनता की अमानत हैं।

(iii) सरकार का गठन व्यक्ति स्वयं करता है किन्तु इस अधिकार के समुचित प्रयोग के लिए आवश्यक है कि उसके समक्ष एक से अधिक विकल्प हों। अत: कम से कम दो प्रतिनिधियों या दलों की उपस्थिति उदार लोकतंत्र की अनिवार्य शर्त है।

(iv) व्यक्ति को स्वतंत्र रूप से जीवन जीने के लिए पर्याप्त अधिकार होने चाहिए जिनमें जीवन का अधिकार, चिंतन और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता तथा धार्मिक स्वतंत्रता इत्यादि प्रमुख हैं।

(v) सरकार जनता के प्रति अधिकाधिक उत्तरदायी रह सके, इसके लिए आवश्यक है कि जनता को सरकार की नीतियों तथा कार्यों की सतत् निगरानी का अधिकार हो।

जहां तक भारतीय संदर्भ की बात है तो भारत में सफल लोकतंत्र का पूर्ण अभाव है। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि देश में लोकतंत्र की स्थापना अनावश्यक है। इसके लिए अधिक गहनता से कुछ क्षेत्रों में सुधार के लिए मजबूत सिद्धांतों की नींव रखनी है, जैसे आर्थिक विषमताओं और सामाजिक असमानताओं का अंत करना, अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा करना, धार्मिक सदभाव के लिए धर्मनिरपेक्ष सिद्धांत को अधिक स्पष्ट और मजबूती के साथ लागू करना।

प्र. लोकतांत्रिक समता और समता की मार्क्सवादी धारणा के बीच मौलिक भिन्नता के विभिन्न पक्षों पर चर्चा कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2017)

उत्तर: मार्क्सवाद सामाजिक-आर्थिक समानता की बात करता है। मार्क्स के मुताबिक आर्थिक समानता का मतलब है समाज के सभी वर्गों को आर्थिक स्तर पर समान बनाना। यदि आर्थिक समानता नहीं रहेगी तो आर्थिक रूप से सशक्त वर्ग समाज के संसाधनों पर अपनी पकड़ बना कर उसका अधिकतम उपयोग करेगा जबकि गरीब और अधिक गरीब होता जाएगा। इससे सामाजिक समानता जाती रहेगी। मार्क्स इसके लिए वर्गहीन समाज की कल्पना करता है जहां न राज्य होगा और न कोई वर्ग। परंतु इसके लिए मार्क्स सर्वहारा के अधिनायकवाद पर बल देता है ताकि उत्पादन की शक्तियों पर सर्वहारा का अधिकार स्थापित हो। यह समतापूर्ण समाज के लिए पूर्वशर्त है। इस समतापूर्ण समाज में योग्यता के अनुरूप कार्य तथा आवश्यकता के अनुरूप वितरण होगा। इससे समाज में वास्तविक समानता स्थापित हो पाएगी।

लोकतांत्रिक समता, कानूनी समानता तथा राजनीतिक समानता की बात करता है। कानूनी समता का अभिप्राय यह है कि समाज में सभी व्यक्तियों को जन्म, दैहिक या मानसिक क्षमताओं तथा अन्य भिन्नताओं के बावजूद समान कानूनी स्थिति प्रदान की जाए। पुन: लोकतंत्र रा. जनीतिक समानता पर भी बल देता है। राजनीतिक समता का अर्थ है, नागरिकों के राजनीतिक अधिकारों की समानता। इसका अभिप्राय है, निर्णयन संस्थाओं में समानता के आधार पर प्रतिनिधित्व का अधिकार अर्थात 'एक व्यक्ति, एक वोट' के आधार पर। इसमें यह भी निहित है कि किसी व्यक्ति को जन्म, लिंग, या धर्म के आधार पर राजनीतिक पद धारण करने से नहीं रोका जाएगा। मतलब यह है कि समाज में कोई ऐसा विशिष्ट वर्ग नहीं होगा जिसे शासन करने का अनन्य अधिकार हो, शासक समाज में किसी समूह का सिद्धांत इस विश्वास पर किया है कि मनुष्य स्वयं एक विवेकशील प्राणी है और राजनीतिक सूझ-बूझ रखता है चाहे भिन्न-भिन्न मनुष्यों के बाहुबल, बुद्धिबल, शिक्षा या संपदा में कितना ही अंतर क्यों न हो? अत: लोकतांत्रिक समता वर्ग संघर्ष की बात नहीं बल्कि सामाजिक स्मरसता की बात करता है। समता के लिए मार्क्स जहां सर्वहारों की क्रांति को आवश्यकता को मानता है वहीं लोकतंत्र, सार्वभौम शिक्षा तथा आपसी सहयोग एवं कर्तव्य पालन पर बल देता है।

प्र. आर्थिक एवं राजनीतिक आदर्शों पर आधारित सामाजिक प्रगति की संकल्पना के विरुद्ध नैतिक सिद्धान्तों में निहित सामाजिक विकास की संकल्पना का मूल्यांकन कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2017)

उत्तर: सामाजिक प्रगति के विचार में नैतिक एवं आर्थिक प्रगति का भाव निहित होता है। नैतिक पक्ष से आशय सत्य, प्रेम, अहिंसा एवं आत्मा के शासन से है। पुन: सामाजिक प्रगति की अवधारणा को हम वैशेषिक दर्शन के धर्म में देख सकते हैं। यहां धर्म के संबंध में यह कहा गया है कि 'यतो अभ्युदय नि:श्रेयस सिद्धिश्य धर्म' अर्थात जिससे भौतिक उत्थान और आध्यात्मिक कल्याण दोनों हो वही धर्म है। यह अवधारणा सामाजिक प्रगति के संदर्भ में भी लागू होती है। हम सामा. जिक प्रगति के संबंध में ऐसा कह सकते हैं कि जब समाज अंधकार से प्रकाश की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर, अव्यवस्था से सुव्यवस्था की ओर, अशुभ से शुभ की ओर और अवैज्ञानिकता से वैज्ञानिकता की ओर बढ़े तो इसे सामाजिक प्रगति की संज्ञा दी जाती है। सामाजिक प्रगति में ही सतत विकास की अवधारणा निहित है। यह विकास वर्तमान की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के साथ-साथ भावी पीढ़ी की अपनी जरूरत पूरी करने एवं समस्या निदान की क्षमता पर नकारात्मक प्रभाव न पड़ने में निहित है। सतत विकास की अवधारणा में प्रकृति विजेता नहीं अपितु प्रकृति प्रेम एवं सहयोग का भाव विद्यमान है। वस्तुत: यह अवध रणा विकास के साथ-साथ प्रकृति एवं भावी पीढ़ी का भी पोषण करना चाहते थे। इस रूप में यह अवधारणा संरक्षित विकास की पक्षधर है।

सामाजिक प्रगति की इस अवधारणा में दो नैतिक पक्ष निहित हैं-

- यह अवधारणा हमारी अपराध भावना को स्पर्श करती है कि हमने प्रकृति का क्या हाल कर दिया है। इस रूप में इसमें एक प्रकार का कर्तव्य बोध का भाव निहित हैं
- सामाजिक प्रगति की इस अवधारणा में मनुष्य की स्वाभाविक इच्छा है कि वह अपने बच्चों के भविष्य को उज्जवल बनाना चाहता है। उन्हें समुचित संरक्षण प्रदान करना चाहता है और इसीलिए वह पर्यावरण संरक्षण करना चाहता है।

स्पष्ट है कि सामाजिक प्रगति की इस नैतिक अवधारणा में मनुष्य प्रकृति के स्वामी के रूप में नहीं अपितु सहयोगी की भूमिका में है। अत: सामाजिक प्रगति अपने आप में एक नैतिक प्रत्यय हैं यह आदर्श का सूचक है। इसमें बाह्य पक्ष के साथ-साथ आंतरिक पक्ष एवं नैतिक मूल्य भी समाहित होते हैं। गांधी के शब्दों में सामाजिक प्रगति का एक रूप है सर्वोदय तथा सर्वधर्मसमभाव। सर्वोदय का तात्पर्य है- एक का और सबका उदय। अमीर एवं गरीब दोनों का उत्थान। अमीर का नैतिक उत्थान तथा गरीबों का आर्थिक उत्थान। ऐसी अवस्था में समाज

व्यक्ति एवं राज्य

अधिकार, कर्तव्य एवं उत्तरदायित्व

प्र. अधिकारों और कर्तव्यों में से कौन दूसरे का प्राथमिक है? जवाबदेही के संदर्भ में विवेचना कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2017)

उत्तर: जब हम व्यक्ति और राज्य के संबंध पर विचार करते हैं, तब दो बातें सामने आती हैं: एक, व्यक्ति को राज्य से क्या-क्या प्राप्त होना चाहिए ये उसके अधिकार हैं, दूसरे, व्यक्ति को राज्य के लिए क्या-क्या करना चाहिए ये उसके कर्तव्य हैं। वस्तुत: अधिकार राज्य के अंतर्गत व्यक्ति को प्राप्त होने वाली ऐसी अनुकूल स्थितियां और अवसर हैं जिनसे उसे आत्म-विश्वास में सहायता मिलती है। नैतिक अधिकार एक व्यक्ति के दूसरे के प्रति दावे हैं जिन्हें समाज मान्यता देती है। जब राज्य इन दावों को कानूनी मान्यता दे देता है। तब वे कानूनी अधिकार बन जाती है। जब अधिकार नैतिक आधार पर स्थापित किए जाते हैं तब यह आवश्यक होता है कि उनके साथ कर्तव्य भी जुड़े हों।

वस्तुत: अधिकार और कर्तव्य एक-दूसरे के पूरक हैं। इन्हें एक ही सिक्के के दो पहलू कहा जाता है। हमे कोई भी अधिकार तभी प्राप्त होता है जब अन्य नागरिक अपने कर्तव्यों का पालन करें। अन्य नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए हमें कर्तव्यों का पालन करना चाहिए। जब हम कानून और राज्य को अधिकारों का संरक्षक कहते हैं तो कानून और राज्य की आदेशों का पालन करना नागरिकों का कर्तव्य हो जाता है। तभी उनके अधिकार सुरक्षित रह सकते हैं। व्यक्ति की तरह राज्य के भी अधिकार और कर्तव्य होते हैं। वैसी स्थिति में राज्य के अधिकार व्यक्ति के कर्तव्य बन जाते हैं और राज्य के कर्तव्य व्यक्ति के अधिकार बन जाते हैं। भारतीय संविधान में जिन मूल अधिकारों की व्यवस्था की गई है, वे नागरिकों के अधिकार हैं। दूसरी ओर, राज्य नीति के निदेशक तत्वों के अन्तर्गत राज्य के जिन कर्तव्यों का निरूपण किया गया है वे भी व्यक्ति के अधिकार हैं। जहां तक उत्तरदायित्व के वहन की बात है तो कर्तव्यों का निर्वाह साथ-साथ होना चाहिए। अकेले अधिकार अराजकता को जन्म देता है और उसमें वह स्वयं निरर्थक और निराधार हो जाता है। अकेले कर्तव्य निरंकुश शासन को जन्म देता है जिसमें नागरिकों का व्यक्तित्व कठिन हो जाता है। अत: इनमें से किसी को भी दूसरे पर प्राथमिकता देना उचित प्रतीत नहीं होता।

प्र. समालोचनापूर्वक मूल्यांकन कीजिए कि क्या सामाजिक प्रगति का आदर्श अपने कर्तव्यों पर व्यक्ति की स्वतंत्रता को गौण महत्व देता है? (सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2017)

उत्तर: प्रगति का आशय है प्रकृष्ट गति अर्थात उत्तम गति। यह वांछनीय परिवर्तन को इंगित करता है जिससे अभीष्ट मूल्य की प्राप्ति होती है। इस प्रकार प्रगति का अर्थ वांछित लक्ष्य की ओर आगे बढ़ना है। वस्तुत: प्रगति को सम्यक दिशा में यथोचित परिवर्तन कह सकते हैं। प्रगति जीवन के विभिन्न पक्षों से संबंधित होती है। इन विभिन्न पक्षों में सामाजिक पक्ष का विशिष्ट एवं केन्द्रीय स्थान है। इस पक्ष से संबंधित प्रगति ही सामाजिक प्रगति है। स्वतंत्रता, समानता एवं न्याय को सामाजिक-राजनीतिक दर्शन में आदर्श के रूप में स्वीकार किया गया है। इन आदर्शों की ओर होने वाला परिवर्तन ही सामाजिक प्रगति का सूचक है। यदि कोई समाज लगातार इसकी ओर बढ़ रहा है तो उसे प्रगतिशील समाज की संज्ञा दी जाती है। सामाजिक प्रगति से समाज में समृद्धि एवं खुशहाली आती है। सामाजिक प्रगति में परिवर्तन की एक निश्चित इच्छित दिशा होती है। यह एक प्रयोजनपूर्ण प्रगति है। यह अपने आप नहीं होती। जब समाज के सदस्य समाज द्वारा स्वीकृत उद्देश्य एवं आदर्शों की पूर्ति के लिए जागृत रूप से प्रयास करते हैं तो सामाजिक प्रगति होती है।

सामाजिक प्रगति एक गतिशील अवधारणा है। 18वीं शताब्दी में प्रबोधन के समय सामाजिक प्रगति का आशय परम्परा से मुक्ति और निरंकुश सत्ता के प्रति विद्रोह का परिचायक है। 19वीं शताब्दी में सामाजिक प्रगति का आशय प्राकृतिक सम्पदा का अधिकाधिक दोहन एवं व्यापक उत्पादन एवं उपभोग था। परंतु 20वीं एवं 21वीं शताब्दी में सामाजिक प्रगति सतत विकास, गुणवत्तापूर्ण, मूल्यपूर्ण एवं अर्थपूर्ण जीवन का पर्याय बन गया है। वस्तुत: वर्तमान में यही अर्थ स्वीकार्य है। साथ ही वर्तमान में सामाजिक प्रगति स्वतंत्रता का ही सार्थक पर्याय है। सामाजिक प्रगति कुछ और नहीं बल्कि स्वतंत्रता में वृद्धि है। यहां स्वतंत्रता को विकास की कसौटी माना गया है। इस क्रम में स्वतंत्रता के संरक्षण और प्रोत्साहन पर विशेष बल दिया जाता है। स्वतंत्रता न केवल प्रगति का अंतिम लक्ष्य है यही प्रगति का प्रमुख साधन या माध्यम भी है। वस्तुत: प्रगति के साध्य एवं साधन दोनों ही रूपों में स्वतंत्रता को स्वीकार किया गया है। साधनकारी स्वतंत्रता लोगों को अपने मनोवांछित जीवन-यापन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मदद करता है। यह स्वतंत्रता दो रूपों में सामाजिक प्रगति के लिए सहायक है।

नकारात्मक रूप में यह स्वतंत्रता के अभाव के मूल कारकों का निराकरण कर सामाजिक प्रगति को सुनिश्चित करता है। इसके अंतर्गत गरीबी एवं दमन, आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था का अभाव तथा सार्वजनिक सुविधाओं की अनदेखी इत्यादि का निराकरण करता है। भावात्मक रूप से स्वतंत्रता का अभिप्राय कुछ स्वतंत्रताओं एवं अवसरों की उपलब्धि से है। अवसरों की यह उपलब्धि ही अधिकार है जो हमें समाज एवं राज्य से प्राप्त होता है। कोई भी अधिकार हमें तब प्राप्त होता है जब हम अपने कर्तव्य का पालन करें। अन्य नागरिकों के अधि

करों की रक्षा के लिए हमें कर्तव्य का पालन करना पड़ता है ताकि उनकी स्वतंत्रता सुरक्षित रहे। परंतु अगर स्वतंत्र होकर जीने का अधि कार न हो तो कर्तव्य अर्थहीन है क्योंकि यह निरंकुश राज्य व समाज को जन्म देता है। परंतु यहां कर्तव्य का पालन सामाजिक प्रगति के संदर्भ में स्वतंत्रता का सकारात्मक उपयोग है। स्वतंत्रता के सकारात्मक उपयोग का यह अर्थ कतई नहीं है कि हम कर्तव्य के लिए विवश हैं। वस्तुत: सकारात्मक दिशा में अपने अधिकार एवं स्वतंत्रता का उपयोग हमें वांछित लक्ष्य तक ले जाता है। इस रूप में स्वतंत्रता की अवधारणा कहीं भी गौण दिखाई नहीं देती बल्कि हम अपने कर्तव्य के पालन द्वारा स्वतंत्रता को एक सशक्त माध्यम बनाकर सामाजिक प्रगति की दिशा में अग्रसर होते हैं। अगर अनुकूल परिस्थितियों यथा शिक्षा का उच्च स्तर, तकनीकी उपलब्धता, सामाजिक सुरक्षा तथा प्रगतिशील एवं योग्य नेता का अभाव हो तो स्वतंत्रता बेमानी होगी और तक कर्तव्य पालन का होना अर्थहीन हो जाएगा।

प्र. क्या हम राज्य को शासक वर्गों की इच्छाओं को व्यक्त करने की संस्था मानते हैं? परीक्षण कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2016)

उत्तर: राज्य की शक्ति शासक वर्ग के हाथ में होती है और वह अपनी इच्छानुरूप पराधीन वर्ग पर शासन करता है। वस्तुत: राज्य के इस वर्ग सिद्धांत का मुख्य योगदान यह है कि इसने इतिहास की यात्रा को निर्धारित करने में आर्थिक शक्तियों की भूमिका को स्पष्ट किया है और यह दिखाया है कि शासक वर्ग आर्थिक शक्ति का स्वामी होता है। वह अपने स्वार्थ-साधन के लिए जनसाधारण का दमन और उत्पीड़न करता है। परंतु इसकी मुख्य त्रुटि यह है कि यह केवल आर्थिक तत्वों को संपूर्ण सामाजिक जीवन की धुरी मानता है और यह आशा करता है कि उत्पादन के प्रमुख साधनों का समाजीकरण हो जाने पर सब मनुष्य स्वतंत्रता और समानता के आधार पर व्यवहार करने लगेंगे, और उनपर बाह्य नियमन या नियंत्रण की आवश्यकता नहीं रहेगी। परंतु जैसा कि समाजवादी देशों- सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ, जनवादी चीन गणराज्य इत्यादि के अनुभव से सिद्ध हो गया है कि आर्थिक जीवन में समाजवादी स्थापित हो जाने पर भी राजनीतिक प्रभुत्व के नए-नए रूप विकसित जो जाते हैं और इस आधार पर नए विशिष्ट वर्ग अस्तित्व में आ जाते हैं। इससे वर्गहीन समाज का उदय नहीं होता बल्कि कठोर श्रेणीतंत्र विकसित हो जाता है। इस वर्ग के सदस्यों को अपने प्रशासनिक एकाधिकार के बल पर ऐसे विशेषाधिकार और आर्थिक वरियताएं प्राप्त हो जाती हैं जो जनसाधारण से उनकी अलग पहचान बनाते हैं। अत: यह कहना मुश्किल है कि राज्य शासक वर्ग की इच्छा का प्रतिनिधित्व करती है। वस्तुत: शासक वर्ग अपनी वैधता कहीं न कहीं आम जनता/ जनसाधारण एवं अन्य सामुदायिक संस्थाओं से ही प्राप्त करता है।

प्र. क्या लोकतांत्रिक राज्य में सविनय अवज्ञा तर्कसंगत है? विवेचना कीजिए।

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2015)

उत्तर: लोकतंत्र से तात्पर्य जनता का जनता के द्वारा जनता के लिए शासन है। अर्थात् जनता स्वयं पर अपने जन प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन करती है। इसलिए विधायिका द्वारा बनाये गये कोई कानून जन विरोधी नहीं हो सकता। पुन: यदि शासन जनता के अनुकूल न हो अथवा जनता की इच्छाओं का वास्तविक प्रतिनिधित्व न हो तो जन प्रतिनिधियों के माध्यम से उसमें संशोधन या बदलने की व्यवस्था लोकतंत्र में है। पुन: प्रत्येक पाँच वर्ष में जनता का विश्वास हासिल करने के लिए जन प्रतिनिधियों को जनता के पास जाना पड़ता है। अत: जहाँ शासन की ऐसी व्यवस्था हो वहां सविनय अवज्ञा अनुचित प्रतीत होता है।

परन्तु हाल ही में न्यायपालिका के निर्णयों द्वारा विधायिका के बनाये गये कानूनों का निरस्तिकरण, विधायिका के सदस्यों को अयोग्य करार देना कार्यपालिका के उच्च स्तर पर घोटालों का उजागर होना यह प्रमाणि त करता है कि जन प्रतिनिधि एवं शासन हमेशा जनता की इच्छाओं का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं करते।

यदि शासन जनता की इच्छाओं का प्रतिनिधित्व न कर रहा हो तो प्रभावित समूह के पास उचित संख्या बल न हो ताकी प्रतिनिधि पर दबाव बना सके ऐसी स्थिति में विरोध के लिए पाँच वर्ष तक प्रतिक्षा उचित नहीं है इसके लिए व्यक्ति को विरोध प्रकट करने के लिए सविनय अवज्ञा का अधिकार होना चाहिए। इस प्रकार के साधन राज्य में विद्रोह या क्रान्ति का समाधान के साधन होते हैं न कि अव्यवस्था के साधन तथा यह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के अनुकूल भी है।

प्र. 'न्याय' की मीमांसा के रूप में अमर्त्यसेन के "नीति" के सिद्धांत की विवेचना कीजिए?

(सिविल सेवा मुख्य परीक्षा, 2014)

उत्तर: उ. कैलीफोर्निया में एशिया सोसायटी की ओर से आयोजित एक सभा में अपना वक्तव्य देते हुए नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन ने कहा कि न्याय का संबंध सिर्फ समाज को परिभाषित करना नहीं वरन उसमें कहीं आगे बढ़कर अन्याय को दूर करना है। सेन का कहना है कि भारत में अन्याय कई स्तरों पर दिखाई देता है जैसे-वृहद स्तर का कुपोषण, अवहनीय स्वास्थ्य सेवाओं की लागत, शिक्षा, लैंगिक विषमता आदि। सेन कहते हैं कि न्याय और व्यवहार में इसके उपयोग को मानने के लिए हमें प्राचीन हिन्दू विचार को देखना होगा जिसमें "नीति और न्याय" की चर्चा है। नीति का संबंध कानूनी विचार से है जो केवल नियमों एवं संस्थाओं से संबंधित है जबकि न्याय का संबंध इनके अनुपालन से है।

नीति को यदि इसकी क्षमता से प्रयोग में लाया जाए तो इससे अधिकतम जन कल्याण एवं न्याय होगा। दूसरी तरफ न्याय का सीधा संबंध नियमों को लागू कराने से है। नीति, अर्थात् नियम और कानूनों की शृंखला, क्या और कैसे आदि निर्णय जो सर्वोच्च स्तर पर लिये जाते हैं उन्हें इस तरह निर्मित किया जाना चाहिए कि उसमें न्याय आधारित विचारों की झलक दिखाई दे और तभी उसे समाज में व्यापक स्तर पर सहर्ष स्वीकार किया जा सकता है। सेन आगे कहते हैं कि कभी-कभी नीतियों का निर्माण धार्मिक भावनाओं और विचारों को आगे रख कर किया जाता है। ऐसे निर्णय उन गरीबों पर जो उस धर्म के नहीं होते जिनकी भावनाओं को देखते हुए उस नीति का निर्माण किया गया है, बुरा प्रभाव पड़ता है। वास्तव में यह नीति की आत्मा को मारने के समान है। नीति का संबंध संगठन की औचित्यता एवं व्यवहार से है जबकि न्याय का संबंध व्यापक रूप से नीति-नियम व कारणों के लागू करने से है।

भारत में व्याप्त माओवादी आंदोलन, ट्रेड यूनियन के हड़ताल आदि